

यौन उत्पीड़न की जमीन को तोड़ना

विकास नारायण राय

यौनिक हिंसा के हाड़-प्रोफाइल प्रकरणों पर इन दिनों चल रही राजनीति के बीच हमें स्त्री उत्पीड़न की बुनियादों को नहीं भूलना चाहिए। लगता है जैसे सत्ता-केन्द्रों को आपसी खींचतान कहीं असली मुद्दों को हाइजैक न कर ले! अन्यथा, शीर्ष न्यायालय के जज, अति-महत्वाकांक्षी राजनीतिक, चर्चित मीडिया सपादक और भक्तों-सपत्तियों के धर्मगुरु को लपेटे में लेनेवाले ये शर्मनाक प्रकरण, स्त्री विरुद्ध हिंसा के व्यापक लैंगिक सन्दर्भों को भी उजागर करते ही हैं; और साथ ही विवशताभरी स्त्री के प्रतिरोधी आयामों को भी। सबक मिलता है कि कार्यस्थल पर होनेवाली यौनिक हिंसा को परिवार व समाज में स्त्री पर होनेवाली रोजमर्रा की लैंगिक हिंसा से अलग-थलग करके न समझा जा सकता है और न उससे निपटा।

विधि, राजनीति, मीडिया, भक्ति के बेहद सफल विशेषज्ञों को यौन आरोपी के रूप में सामने पाना समाज की अपनी सेहत पर भी प्रश्नचिह्न जैसा लगता है। किसी भी सजग समाज में ऐसे प्रकरणों से एक यह संगत सवाल भी उठना चाहिए कि इन महानुभावों को यौन अपराध का प्रशिक्षण कहाँ से मिला होगा? अपने 35 वर्ष के पुलिस जीवन में मैंने तमाम तरह के अपराधी देखे हैं – नौसिखिये, अनुभवी, शौकिया, पेशेवर, अनगढ़, कलाकार, गुमनाम, मशहूर; यौन उत्पीड़कों में भी ये सारी श्रेणियाँ मिलेंगी। बस उनमें से अधिकांश के चेहरों पर मासूमियत थोड़ी ज्यादा होगी और उत्पीड़ितों के साथ 'सहजीवन' का उनका माद्दा, भांडा फूटने पर, किसी को भी आश्चर्यचकित कर देगा।

यकीन मानिए कि अन्य क्षेत्रों की तरह अपराध जगत में भी सफलता के लिए प्रशिक्षण की जरूरत होती है। मसलन, कोई कुशल गृहभेदक चोर या मंजाहुआ जेबकतरा या माहिर साइबर ठग या पक्का काट्रेक्ट किलर वैसे ही नहीं बन जाता; ये गैरकानूनी पेशे भी गहन अत्यास की मांग करते हैं। खांटी अपराधियों की रवायतें, सीनियर पेशेवरों के साथ महीनों-बरसों तक या जेलों में उस्तादों की संगत में

परवान चढ़ती हैं। लोग बेखबर बने रहते हैं और उनका घर, उनकी जेब, उनका साइबर-स्पेस, उनकी जान, कुशल अपराधियों की नजर हो जाते हैं। क्या यौन अपराधी भी ऐसे ही नहीं हैं? या हम जानना ही नहीं चाहते कि यौन अपराधी भी लैंगिक हिंसा में प्रशिक्षित लोग हैं – जिन्होंने परिवारों में पुरुष-वर्चस्व का अमित पाठ पढ़ा है और समाज ने जिन्हें उस वर्चस्व को यौनिक उत्पीड़न में उतारने का मंच दिया हुआ है।

क्या यह भी साफ नहीं है कि उपरोक्त चारों मामले मर्द की वक्ती कामुकता/लपटता से नहीं बल्कि उसके दीर्घकालीन लैंगिक वर्चस्व से संचालित हैं। इनमें से हर मामले में आरोपी का पीड़ित से रिश्ता अधिकार-संपन्नता का है। सभी मामले इसीलिये तूल पकड़ सके क्योंकि उत्पीड़ित स्त्रियों ने एक सीमा तक बर्दाश्त करने के बाद उत्पीड़न के विरुद्ध खुलकर बोलने की हिमतभरी पहल दिखाई। हालांकि धर्मगुरुवाले मामले के अलावा, शेष तीनों में लड़कियाँ जागरूक तबकों से हैं, इसके बावजूद, वे आरोपियों को तुरंत पूरी तरह कानूनी जवाबदेही में घसीटने से हिचकती भी रहीं। इन तीनों पीड़ितों के अपने कैरियर की शुरुआती पायदानों पर होने से उन पर अतिरिक्त दबाव रहा। अपने पेशेवर भविष्य को लेकर अनिश्चितता भी उनके आड़े आती रही होगी, एक स्त्री होने के नाते उनकी नियति में एक बड़ा खतरा यह भी निहित है कि ज्यादा भंडा-फोड़ करने पर कहीं उन्हें 'कठिन' मानकर अपने पेशे में उनका अधोषित बहिष्कार न हो जाय।

जबकि इसके बरक्स आरोपियों के लैंगिक अभय को आज भी मुखर समर्थन की कमी नहीं है। केन्द्रीय मंत्री फारूख अब्दुल्ला ने पीड़ितों के कानूनी प्रतिरोध का जिस भाव-भंगिमा में मखौल उड़ाया (अब हमें महिला सेक्रेटरी रखने में डर लगता है), वह भारतीय 'मर्दानगी' की प्रतिनिधि आवाज की तरह आम बहसों में सुनी जा सकती है। अच्छे-अच्छों द्वारा दावा किया जा रहा है कि आरोपियों पर लगे यौनिक हिंसा के आरोपों को उनकी शानदार पेशेवर उपलब्धियों के सन्दर्भ से काटकर नहीं देखा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, वे सड़कछाप यौन अपराधियों जैसे घटिया लोग नहीं हैं कि उनके आचरण को सार्वजनिक चर्चा

का विषय बनाकर उनका अपमान किया जाय। क्या सचमुच? उनका आचरण अन्य यौन अपराधियों से किस रूप में भिन्न कहा जाएगा? देखा जाय तो इन सफेदपोशों का अपराध जघन्यतर ही कहलायेगा। उन्होंने, अचानक नहीं, सोच-समझकर ऐसों का उत्पीड़न किया जो उनके सामने लगभग लाचार हैसियत में थे। उनका अपने पीड़ितों से विश्वास का रिश्ता था जो उन्होंने कलंकित किया। यहाँ तक कि उन्होंने अपने पेशे को भी कलंकित किया। बचाव में अब जो नैतिक मुद्दों पर उन्होंने और उनके संस्थानों ने ओढ़े हुए हैं वे भी पीड़ित स्त्री के प्रतिरोध के प्रति उनके अन्दर-भरे लैंगिक तिरस्कार को ही इंगित करते हैं।

दरअसल, इन प्रकरणों से काफी हद तक रेखांकित होता है कि समाज में स्त्री की उपस्थिति बदली है, स्थिति नहीं। जैसे स्त्री का शैक्षणिक या वर्गीय रूप से सशक्त होना उसे यौन-हिंसा से मुक्ति की गारंटी नहीं प्रदान करता, उसी तरह मर्द का सड़कछाप न होकर सफेदपोश होना भी अपने-आप में स्त्री के लिए लैंगिक हिंसा से राहत का सबब नहीं बनता। यह भी उजागर हुआ कि राजनीति या धर्म जैसे पारंपरिक रूप से खालिस मर्दाने क्षेत्र ही नहीं, न्याय और मीडिया के लोकतांत्रिक स्पेस भी स्त्री-उत्पीड़न के विरुद्ध सजग मंच नहीं बन सके हैं। हाँ, इन प्रकरणों में प्रतिरोधी परिवर्तन की दिशा का संकेत भी है – अंततः उत्पीड़ितों द्वारा ही अपने उत्पीड़नों का बेबाक खुलासा, और मीडिया, कानून, नागरिक समाज द्वारा उनका पुरजोर समर्थन 'चुप्पी' तोड़ने का फैसला पीड़ितों का अपना फैसला रहा; यही उनके काम भी आया। अंधभक्त पारिवारिक पृष्ठभूमि से आयी धर्मगुरुवाली लड़की को मुंह बंद रखने के लिए यह कहकर डराया जाता रहा कि मामला सार्वजनिक होने से उसकी शादी में मुश्किल आयेगी। बेशक उसके समाज में शादी ही उसका कैरियर हो पर जब पानी सर से ऊपर हो गया तो उसीकी बोली ने धर्मगुरु के उत्पीड़क संसार को नंगा किया।

इन चारों मामलों को मीडिया में तूल पकड़ना ही था; यौनिक हिंसा अपने आप में एक बिकाऊ हेडलाइन तो है ही, ऊपर से इन मामलों को सत्ता-केन्द्रों की रस्साकशी ने भी गर्म रखा है। दिसंबर 2012 दिल्ली बलात्कार कांड के दौर के जन-

उभार से उत्पन्न सामाजिक गतिकी की सकारात्मक भूमिका को भी नहीं भूलना चाहिए। उसका भी असर है कि, चारों आरोपियों की हिमायत में शक्तिशाली स्वार्थी की लामबंदी के बावजूद, कानून इन मामलों में कामो-बेश अपनी राह पर चलता रह सका। यौनिक हिंसा के क्षेत्र में स्त्री के लिए एक अनुकूल समीकरण यह भी बनता है कि इस हिंसा से पीड़ित की अस्मिता ही नहीं, उसके यौन पर एकाधिकार जमानेवाले पुरुष की पारंपरिक मर्दानगी भी अपमानित होती है। लिहाजा, आज की बदलती परिस्थितियों में, जब पुरुष अपने-दम 'अपनी' स्त्री की यौन-शुचिता की रक्षा का सामंती दावा नहीं कर पाता, यौन-हिंसा के मामले में उसकी मनःस्थिति स्त्री की प्रतिरोधी पहल के साथ नथ्थी हो जाती है।

तो क्या पुरुष के लैंगिक वर्चस्व के सर्वाधिक अपमानजनक रूप, यौनिक हिंसा, को स्त्री द्वारा बर्दाश्त करने के दिन लद गए? उपरोक्त जैसे प्रकरणों के सार्वजनिक होते रहने से अन्य बहुतेरी खामोश पीड़िताओं को भी अपना उत्पीड़न व्यक्त करने की प्रेरणा मिली है। अवश्य ही, लोकतंत्र, मीडिया और कानून के दखल ने, इस क्षेत्र में स्त्री की प्रतिरोधी मुखरता को सशक्त किया है। पर चंद चर्चित मामलों में शक्तिशाली यौन आरोपियों को जवाबदेही के कठघरे में खड़ा कर दिए जाने से हमें इस मुगालते में नहीं रहना चाहिए कि खुद 'पुरुष वर्चस्व' भी इन संस्थाओं के निशाने पर है। अभी उनके एजेंडे में अपराधी को पकड़ना तो है पर अपराध को जकड़ना नहीं। लिहाजा, दूर-दराज के भारत में ही नहीं, जहाँ भी लोकतंत्र, मीडिया और कानून का दखल कमजोर है या नदारद है, स्त्री के लिए यौनिक हिंसा को पुरजोर चुनौती दे पाना आज भी दुश्कर बना हुआ है।

क्या गाहे-बगाहे चंद हाड़-प्रोफाइल लोगों को कानूनी दुर्गति औरों के लिए सबक होगी? किसी भी अपराध संसार में ऐसा आंशिकरूप से ही होता है; यौन उत्पीड़न की बंद दुनिया में तो यह बिल्कुल भी नहीं होने जा रहा। कानून का सबक, लैंगिक अभय के परदे की आड़ में सक्रिय यौन अपराधी के मनोवैज्ञानिक धरातल पर अलग तरह से काम करता मिलेगा, उसके लैंगिक अनुकूलन के नजरिये से, स्त्री पर हावी होना उसकी स्वाभाविक प्रकृति है;

फिर भी कोई यौन-उत्पीड़न में पकड़ा जाय तो वह उसकी अपनी बेवकूफी या लापरवाही का नमूना ही हुआ। एक यौन अपराधी की सोच की तुलना एक घूसखोर की सोच से की जा सकती है। कार्यस्थलों पर दोनों को एक जैसी पैतरेबाजी, इस हाथ लो उस हाथ दो – की सुविधा है। दोनों को एक जैसा संस्थानिक संरक्षण – वातावरण की चुप्पी का अभेद्य सुरक्षा-कवच – भी प्राप्त है। अनुभव बताता है कि कार्यस्थलों का हाल भी लैंगिक असमानता के पारिवारिक जंगलों जैसा ही है; उनमें भी यह चुप्पी कभी-कभार ही टूट पाती है।

स्त्री के लिए कदम-कदम पर रुकावटों और खतरों के बीच यौन-रक्षा के कानून उसका नहीं, राज्य का सशक्तीकरण करते हैं। परिवार उसे भौतिक एवं सांस्कृतिक रूप से कमजोर करता है, और समाज उसे स्टीरियोटाइप में कसकर व 'इज्जत' की जवाबदेही लादकर विवश रखता है। कार्यस्थल को उसे मनोविज्ञानी एवं आर्थिक रूप से मजबूत करना चाहिए पर वहाँ की शर्त है यौनिक समझौता। कमाल की बात है कि जहाँ परिवारों/समाजों में लिंग-सापेक्ष विषमताओं को मजबूतकर स्त्री को कमजोर किया जाता है वहीं कार्यस्थलों पर लिंग-निरपेक्ष समानताएं लादने से स्त्री के यौन-उत्पीड़न को शह मिलती है। 'मासूम' तर्क होता है कि स्त्री द्वारा हर क्षेत्र में बराबरी का दावा, कार्यस्थल पर उसके लिए पाजिटिव भेदभाव की दुहाई से मेल नहीं खाता। पर बराबरी है कहाँ? यदि घर/समाज में बराबरी हो तभी तो कार्यक्षेत्र में बराबरी चलेगी।

स्त्री को कमजोर रखने की ये स्थितियाँ, परिवार से कार्यस्थल तक, स्त्री को संभावित यौन-शिकार और मर्द को संभावित यौन-शिकारी बनाने की प्रणालियाँ भी हैं। लिहाजा, लैंगिक विषमताओं की आक्रामक दुनिया में, कार्यस्थलों को लिंग-सापेक्ष बनाये बिना, वहाँ यौनिक उत्पीड़न रोकने के कानूनों को कितना भी क्यों न कठोर कर दिया जाय, स्त्री के लिए वस्तुस्थिति जस की तस रहेगी। उपरोक्त उत्पीड़ितों के संघर्ष में वक्ती निदान का सबक अवश्य छिपा है – जैसे परिवार में वैसे ही कार्यस्थल पर भी, लिंग उत्पीड़न की बंद दुनिया के लोकतांत्रिक खुलासे से ही मीडिया हरकत में आता है और कानून को चाबी लगती है। स्त्री के पास फिलहाल तो यही उपाय है।

अर्थ का शास्त्र

रुपया कायम ! अब विदेशी कर्ज के दम पर !

डॉ लर के मुकाबले रूपये को मजबूत रखना केंद्र सरकार के वित्त मंत्रालय व भारतीय रिजर्व बैंक की सर्वोच्च प्राथमिकता क्यों बनी हुयी है? सीधी बात, क्योंकि यही भारतीय कारपोरेटों की भी प्राथमिकता है। उनका व्यवसायिक-औद्योगिक आयात, उनकी पंचतारा अय्याशियाँ, उनका विदेशी निवेश, देशी लूट में विदेशी कपनियों से उनकी भागीदारियाँ, इत्यादि को सस्ता रखना जो जरूरी है। लिहाजा, रूपये को उसके बाजार भाव पर लुढ़कने नहीं दिया जा रहा है और इसके लिए देशी डालर का भण्डार नकद विदेशी कर्ज से भरा जा रहा है। हालांकि यदि रूपये की विनिमय दर बाजार के मुताबिक दुरुस्त होने दी जाय तो इससे भारतीय निर्यात को तो बढ़ावा मिलेगा ही, साथ ही देश में रोजगार की स्थिति भी अच्छी होगी।

डालर के मुकाबले सालों तक रूपये को मजबूत रखने में अप्रवासी भारतीयों द्वारा देश में भेजे जानेवाली बचतों की वृद्धि को बड़ी भूमिका रही है। आइ टी सेक्टर की श्रेष्ठता एवं सस्ते कुशल-श्रम की प्रचुरता ने तो पारंपरिक रूप से निर्यात को बढ़ावा देकर रूपये को बल दिया ही। यहाँ तक कि गत वर्षों में अमेरिकी बाजारों की मंदी भी इस दिशा में काम आती रही। अमेरिकी सरकार ने इस मंदी से निपटने के लिए 2009 से अपने फेडरल बैंक की मार्फत प्रति माह 84 बिलियन डालर की मौद्रिक तरलता बढ़ाने की नीति पर अमल जारी रखा हुआ है। पर ज्यों-ज्यों वे मंदी से निकलते गए हैं, इस कृत्रिम तरलता से उनके हाथ खींचने के संकेत भी बीच-बीच में आते रहते हैं, जो रूपये की कीमत को भी डावांड़ोल करने का कारण हो जाते हैं।

इस बीच भारतीय तंत्र में भ्रष्टाचार विरोधी जन-आन्दोलनों ने जोर पकड़ा है। परिणामस्वरूप, आयात-निर्यात संतुलन बनाने के क्रम में लोहे और कोयले जैसे खनिजों की अंधाधुंध लूट पर आधारित निर्यात का जमाना अब लद गया। अप्रवासियों द्वारा भारत भेजी जानेवाली बचतों में वृद्धि की गति भी असीमित तो नहीं चलती रह सकती। इसके बरक्स कालेधन की प्रणालियों और सरकारी फिजूलखर्ची पर रोक लग नहीं सकी। कोई बात नहीं, न सही। अब, लिहाजा, विदेशों से भारी कर्ज उठाकर रूपये को

मजबूत रखने का सिलसिला शुरू कर दिया गया है। जिसके लिए रिजर्व बैंक, बिना हो-हल्ला किये, बैंकिंग माध्यमों से विदेशों में सैकड़ों अरब डालर के सार्वभौम बांड 3-4 महीनों में बेच चुका है। ये बांड भारी ब्याज पर लिए गए ऐसे कर्ज हैं जिनके भुगतान की सार्वभौम गारंटी भारत सरकार की ओर से होगी। यानी देश की अगली पीढ़ियाँ नए करों के लिए तैयार रहें।

जहाँ अंतर्राष्ट्रीय बाजार के हिसाब से कीमत में रूपया होना चाहिए 1 डालर का 70, पर इसे भारत सरकार के वित्त मंत्रालय और रिजर्व बैंक ने येन-केन-प्रकारेन प्रति डालर 61-62 रूपये पर रखा हुआ है। रूपये को इस प्रकार की कृत्रिम मजबूती से एकमात्र फायदा भारतीय कारपोरेट को है जबकि इसका बोझ उठाना पड़ रहा है देश के आम जन को। मंहगे रूपये के कारण तमाम देशी निर्यात इकाइयाँ अंतर-राष्ट्रीय प्रतिस्पर्ध में पीछे छूटती गयी हैं। न केवल निर्यात का आंकड़ा टूटा है बल्कि रोजगार भी व्यापक रूप से समाप्त हुए हैं। आज देशी बाजार चीन में बने सामानों से इसी लिए पटे पड़े हैं।

कारपोरेट वर्ग की पकड़ भारतीय तंत्र पर इतनी मजबूत है कि हर राजनीतिक दल और तमाम तरह का मीडिया रूपये को हर हाल में मजबूत रखने की दुहाई देता मिलेगा। अपने तर्कों के समर्थन में वे डालर के मंहगा होने से पेट्रोलियम पदार्थों के बढ़ते आयात बिल का रोना रोते हैं। पर इसका सीधा हल है कि डीजल की कीमतों को सरकार द्वारा सब्सिडाइज कर, पेट्रोल की कीमतों को बाजार के मिजाज पर छोड़ दिया जाय। इससे जरूरी वस्तुओं का आवागमन मंहगा नहीं होगा जबकि अमीर वर्ग अपनी ऐय्याशियों का बढ़ता भार स्वयं वहन करेगा।

आयात-निर्यात का बढ़ता घाटा, जो रूपये की कृत्रिम मजबूती से और बढ़ता गया है, से भी कई गुणा बढ़कर, बेलगाम मुद्रास्फीति वह खास कारण है जिससे रूपया अंतर-राष्ट्रीय बाजार में कमजोर पड़ता है। मुद्रास्फीति के लगातार बढ़ने के लिए मुख्यतः बढ़ता काला धन और सरकारी फिजूलखर्ची जिमेदार हैं। फिजूलखर्ची कम करने का मतलब होगा राजनीतिकों व अफसरों की ऐय्याशियों पर लगातार कसना, जो कोई

सरकार व्यवहार में करना नहीं चाहती। इसमें कार्यपालिका या विधायिका ही नहीं, न्यायपालिका भी सामान रूप से शामिल है क्योंकि उनकी ऐय्याशियाँ भी औरों से पीछे नहीं।

अकेले वर्ष 2011 में 4 लाख करोड़ रूपया काले धन के रूप में भारत से बाहर गया। यह 2010 के मुकाबले 24 प्रतिशत अधिक है, और केंद्र सरकार के उस वर्ष के बजट का एक तिहाई। इंटरनेशनल वाचडाग ग्लोबल फाइनेन्शियल इनटेग्रिटी नामक संस्था के अनुसार वर्ष 2002-2011 के दौरान भारत से कुल 15.7 लाख करोड़ रूपये का काला धन विदेश भेजा गया है। जो काला धन देश में ही खपा है वह अलग हुआ। यानी काले धन की एक समानांतर अर्थ-व्यवस्था इस देश में चल रही है और इसे चला रही है।

मुद्रास्फीति बढ़ने में योगदान करने के अलावा काला धन आम नागरिक की मेहनत की कमाई को भी निरंतर कुतरता है। काले धन के अर्थ-व्यवस्था में दनदनाने से बाजार मंहगा होना ही है और निश्चित आयवालों की क्रय शक्ति उसी अनुपात में घटनी ही है। इस मंहगाई का खामियाजा आम आदमी को ही तो भुगतना होता है। घरेलू बाजार में रूपये की इस घटती कीमत पर हमारे नियोक्ता चुप रहते हैं।

रिजर्व बैंक के गवर्नर रघुराम राजन ने बैंक की हालिया बोर्ड मीटिंग के बाद मुद्रास्फीति के लिए राज्यों के कृषि उत्पादों के मूल्य निर्धारण को दोषी ठहराया। उसका बेशर्मीभरा तर्क इस प्रकार है: क्योंकि कृषि उत्पादों का समर्थन मूल्य हर वर्ष बढ़ा दिया जाता है, लिहाजा उनकी उपभोक्ता कीमतें बढ़ती हैं और तदनुसार मुद्रास्फीति भी। वास्तव में, ये बढ़ी कीमतें हद से हद कृषि पैदावार में लगनेवाले खाद-बिजली-पानी-बीज इत्यादि की बढ़ी कीमतों को ही पूरा कर पाती हैं। एक तरह से, ग्रामीण क्षेत्रों में जानेवाला यह पैसा वहाँ के कस्बाई बाजारों को मंदी की मार से भी बचाता है। घरेलू बाजार में रूपये की क्रय शक्ति को मजबूत करना और अंतर-राष्ट्रीय स्तर पर उसे उसके वास्तविक विनिमय पर रखने की पहल प्रभु-वर्ग तो करने से रहा। आम वर्गों को ही आगे आना होगा।

- अशरफ